ओमप्रकाश वाल्मीकि

हिंदी दलित साहित्य का एक पूरा युग
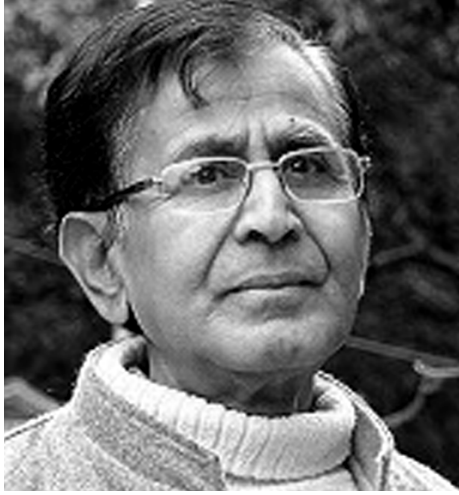
बजरंग बिहारी तिवारी

अभी-अभी स्मृति-शेष हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि (30 जून, 1950-17 नवम्बर, 2013) का सम्यक मूल्यांकन आने वाला समय करेगा। इस समय उनके लेखन की कुछ ऐसी बुनियादी विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है जो उन्हें अपने समकालीनों से अलग करती हैं। वाल्मीकि हिंदी दलित साहित्य के सर्वाधिक मान्य लेखकों में थे। अन्य भारतीय भाषाओं के दलित साहित्यकारों की निगाह में वे हिंदी के प्रतिनिधि लेखक थे। उनका समूचा लेखन एक निर्णायक युग की दास्तान के रूप में पढ़ा जाएगा। दस्तावेज़ तो वह है ही।

कविता, कहानी, नाटक और विमर्श के क्षेत्र में सशक्त उपस्थिति रखने वाले वाल्मीकि का पहला कविता संग्रह 1979 में *सदियों का संताप* नाम से छपा था। इसके प्रकाशन में उनके वामपंथी मित्र और देहरादून के समर्पित रंगकर्मी विजय गौड़ की भूमिका थी। अस्मितावादी मुखरता के बरक्स मितव्ययी शब्द-सजगता इस संग्रह की पहचान है। यही पहचान क्रमशः कवि के रूप में वाल्मीकि की पुख़्ता पहचान बनती चली गयी। पतले से कुल उन्नीस कविताओं वाले इस संग्रह का प्राथमिक लक्ष्य जातिवादी धर्म की कुसंस्कृति को बेपर्दा करना है। 'जाति' शीर्षक से छपी एक कविता का अंश

उद्धृत करना अभी प्रासंगिक लग रहा है :

स्वीकार्य नहीं मुझे जाना
मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में
वहाँ भी तुम
पहचानोगे मुझे मेरी जाति से ही!

ये कविताएँ 1980–89 के बीच लिखी गयी थीं। इस समय तक हिंदी में दलित कविता संग्रहों की संख्या बहुत कम थी। 1989 में ही मंसाराम विद्रोही की कृति *दलित पचासा,* श्यौराज सिंह बेचैन की *नयी फ़सल* और डॉ. धर्मवीर का संग्रह *हीरामन* का प्रकाशन हुआ था। कर्मशील भारती का संग्रह *दलित मंजरी* एक वर्ष पहले (1988) छप चुका था। आलोचकों तथा दलित कविता के सामान्य पाठकों ने इन सभी संग्रहों में *सदियों का संताप* को ही शीर्ष रचना माना। इसका दूसरा संस्करण गौतम बुक सेंटर, दिल्ली से 2008 में छपा। भूमिका में वाल्मीकि ने लिखा : 'दलित ही नहीं ग़ैर-दलित पाठकों, आलोचकों ने जिस उत्साह से इस संग्रह पर अपनी प्रतिक्रियाएँ दीं, उसने मेरे मन में एक गहरा विश्वास पैदा किया। दलित साहित्य आंदोलन को हिंदी में स्थापित करने में इस छोटी-सी पुस्तक ने एक अहम भूमिका निभाई।' *सदियों का संताप* सवालों से भरी हुई किताब है। पहली कविता 'ठाकुर का कुआँ' का केंद्रीय प्रश्न है : 'कुआँ ठाकुर का / पानी ठाकुर का / खेत-खलिहान ठाकुर के / गली-मुहल्ले ठाकुर के / फिर अपना क्या? / गाँव? / शहर? / देश?' दूसरी कविता 'मानचित्र' का सवाल है : 'पता नहीं यह कौन-सा / समीकरण है / जो दिन से रात / रात से दिन / पल-पल छिन्न-छिन्न खींच रहा है / जिस्म से पसीना'। 'युग चेतना' शीर्षक कविता का उद्घोष है: 'कितने सवाल खड़े हैं / कितनों के दोगे तुम उत्तर'। संग्रह की अंतिम कविता 'तब तुम क्या करोगे?' प्रश्नों को सिलसिलेवार गूँथ कर रची गयी है। इस कविता की तर्ज पर हिंदी के दूसरे दलित कवियों ने कविताएँ रची हैं। कंवल भारती की कविता 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती'? बहुत कुछ इसी प्रभाव की उपज है। उनके संग्रह का शीर्षक भी यही है। वाल्मीकि की कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं : 'जो जीना पड़ जाए युगों-युगों तक / मेरी तरह? / तब तुम क्या करोगे?' यह प्रश्नाकुलता बाद के संग्रहों में न सिर्फ़ बनी रही, बल्कि बढ़ती और गहराती गयी। दूसरे संग्रह *बस्स! बहुत हो चुका* की चर्चित कविता 'शायद आप जानते हों' 'तब तुम क्या करोगे' का स्वाभाविक विस्तार लगती है। कवि धर्मसत्ता के नियामकों से पूछता है : 'चूहड़े या डोम की आत्मा/ ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है/ मैं नहीं जानता / शायद आप जानते हों'। तीसरे संग्रह का स्वर ज़्यादा राजनीतिक है। सरोकार वही है लेकिन स्वर में ज़्यादा दृढ़ता आ गयी है। संग्रह का शीर्षक 'अब और नहीं ...' इसका सबूत है। 2009 में प्रकाशित इस संग्रह में भारत राष्ट्र और उसके छह दशक पुराने लोकतंत्र की मीमांसा है। बड़ी तिक्त आवाज़ में कवि बताता है: 'संसद के गलियारों का / अधमरा लोकतंत्र भी / न अपना हो सका / न जगा सका / विश्वास ही'।

जाति की यह भावना समाज में इतनी गहरी है कि दलित भी इससे अछूते नहीं है। दलितों में भी एक ऐसा वर्ग है जो इससे मुक्त नहीं होना चाहता। ... उनका यह अंतर्द्वंद्व उस वक़्त खुलकर सामने आया जब मेरी एक कहानी 'शवयात्रा' *इण्डिया टुडे* (सितम्बर 1997) में प्रकाशित हुई। उन्होंने जिस प्रकार विरोध किया वह जातिवाद की गहरी पैठ का एक उदाहरण था'।

हिंसा के तमाम रूप-रंग हैं, कई नाम हैं, अनगिनत पैटर्न हैं। जाति इन्हीं में से एक है। जातिगत हिंसा अपनी अंतिम परिणति में किसी को नहीं बख़्शती। हिंसा के शिकार और हिंसा करने वाले दोनों

उससे नहीं बचते। दोनों अपनी मनुष्यता से वंचित होते हैं। अछूतपन दोनों के साथ चिपका हुआ होता है। एक बार जन्म लेने वालों की अस्पृश्यता इकहरी होती है तो दो बार जन्म लेने वाले (द्विजों) की दुहरी। इस दुहरी अस्पृश्यता की पहचान बड़ी मुश्किल से होती है। कवि यह दायित्व भी स्वीकारता है। अपनी प्रश्नवाचक शैली में वह पूछता है :

न जाने किस ...ने
तुम्हारे गले में
डाल दिया है जाति का फंदा
जो न तुम्हें जीने देता है
न हमें

इकहरी अस्पृश्यता वालों ने 'बिना डरे / साँप की केंचुल-सा हीनता बोध / उतार फेंका है / दीवार के उस पार / जहाँ सड़ रहा है/ सदियों से जमा कूड़ा'। अब बारी दुहरी अस्पृश्यता से घिरे लोगों के मुक्त होने की है। विडम्बना यह कि दुहरी परत वालों ने असहजता को अंगीकार कर ऊपरी परत को जातिगत श्रेष्ठता का पर्याय मान लिया है। एक दुर्लक्ष्य अलंघ्य दीवार खड़ी कर दी है :

धूप भी हमें बाँध नहीं पाती
डर धकेलता है
गहरी अँधेरी खोह में
जहाँ एक हाथ खो देता है विश्वास
दूसरे हाथ का
रोज़ मिलते हैं
फिर भी अपरिचित हैं
एक दूसरे से।

ऐसा पहली बार हुआ था जब कोई त्यागी चूहड़ों के घर बधाई देने आया था। बल्कि इससे भी ज़्यादा बड़ी बात यह हुई थी कि चमनलाल त्यागी मुझे अपने घर ले गये थे। बेहद आत्मीयता के साथ पास बैठाकर दोपहर का खाना भी खिलाया था। वह भी अपने बर्तनों में। ... खाना खाकर मैं जूठे बर्तन उठाने लगा तो उन्होंने मुझे रोक दिया और अपनी बेटी को आवाज़ दी, 'भैया के बर्तन उठाकर ले जा'।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने *जूठन* लिखकर हिंदी में दलित आत्मकथा का मानक रचा। चयन का विवेक *जूठन* के लेखक की विशिष्टता है। एक भी प्रसंग अनावश्यक नहीं। किस घटना को अनुभव का हिस्सा मानना है और उसे आत्मकथा में कितना स्पेस देना है— लेखक की सजगता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। आत्मकथा की भूमिका का पहला वाक्य है : 'दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव दग्ध हैं।' पूरी किताब मानो इसी महावाक्य की अकल्पनीय अभिव्यक्ति हो जाती है। बेशक, दलित जीवन उतना आनंदविहीन न होता हो, लेकिन वाल्मीकि की लेखकीय प्रतिबद्धता उन क्षणों का संज्ञान लेने से भी रोकती है। एक कड़ा अनुशासन पूरी किताब में व्याप्त है। सविता कुलकर्णी का युवा वाल्मीकि की ज़िंदगी में प्रवेश विषयांतर कर सकता था। इस बनते रिश्ते की अंतरंगता युवक के इस कथन पर चटक जाती है : 'मैं एस.सी. हूँ'। लेखक अगली कुछ पंक्तियों में इस प्रकरण को यों समाप्त करता है : 'मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफ़ी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फ़ासला बढ़ गया था। हज़ारों साल की नफ़रत हमारे दिलों में भर गयी थी'। एक प्रसंग रोडवेज क्लर्क मास्टर वेदपाल का है। लेखक की एक रात बस अड्डे पर गुज़री थी। मास्टर वेदपाल का एक साथी औरत के साथ आया। वाल्मीकि चाहते तो इस घटना को 'मजे के लिए' लिख सकते थे। लेकिन चंद शब्दों में उन्होंने प्रसंग का समापन इस तरह किया : 'आज उस स्त्री के बारे में सोचता

हूँ तो जी मिचलाने लगता है। किस मजबूरी में आयी होगी इनके पास'। जैसा संयम प्रेमचंद ने 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में बरता है— यह प्रसंग उसी की याद दिलाता है। किताब के पहले पन्ने से लेकर आख़िरी पन्ने तक जातिवादी क्रूरता के अनुभव दर्ज हैं। यह दस्तावेज़ीकरण ही लेखक का अभीष्ट है। अवांतर प्रसंगों से बचना इसीलिए सम्भव हो पाया है। सवर्णवादी हिंसा के घटाटोप में लेखक की निगाह मनुष्यता के टिमटिमाते संदर्भों की तरफ़ भी गयी है। चमनलाल त्यागी का ज़िक्र ऐसा ही एक संदर्भ है। हाई स्कूल पास करने पर लेखक को बधाई देने वे उनके घर पहुँचे थे : 'ऐसा पहली बार हुआ था जब कोई त्यागी चूहड़ों के घर बधाई देने आया था। बल्कि इससे भी ज़्यादा बड़ी बात यह हुई थी कि चमनलाल त्यागी मुझे अपने घर ले गये थे। बेहद आत्मीयता के साथ पास बैठाकर दोपहर का खाना भी खिलाया था। वह भी अपने बर्तनों में। ... खाना खाकर मैं जूठे बर्तन उठाने लगा तो उन्होंने मुझे रोक दिया और अपनी बेटी को आवाज़ दी, 'भैया के बर्तन उठाकर ले जा'। वह आकर जूठे बर्तन ले गयी'। लेखक चाहता तो इस 'अटपटे' प्रसंग को सम्पादित कर सकता था। इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले उसने यह सूचना भी जोड़ी कि चमनलाल *रामचरितमानस* के पाठक थे। एक मानस प्रेमी की उदारता प्रसंग के अटपटेपन में बढ़ोतरी ही करती है। अपने अनुभवों के प्रति लेखकीय ईमानदारी के चलते ही वाल्मीकि ने इसे *जूठन* में जगह दी। श्रवण कुमार शर्मा, सुरेंद्र त्यागी, बाबूराम त्यागी जैसे नाम चमनलाल के सिलसिले को आगे बढ़ाते हैं। जाति के तंत्र में व्यक्ति और समुदाय के जटिल संबंधों पर इससे कुछ रोशनी पड़ती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने आत्मकथा सहित अन्य कृतियों में इस विडम्बना को उजागर किया है : 'जब दलित अपनी अस्मिता के लिए उठकर खड़ा होता है तो उस पर जातिवादी होने का आरोप लगा दिया जाता है'।

कुछ आलोचक वाल्मीकि को बतौर कहानीकार ज़्यादा पसंद करते हैं। वाल्मीकि के कुल तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हुए : *सलाम, घुसपैठिए* और *छतरी*। जैसे उनकी कविताओं में नारेबाजी व स्थूल अभिधापरकता से बचते हुए दलित कविता की अपनी प्रखर सांकेतिक भाषा विकसित करने का आग्रह है कुछ वैसे ही उनकी कहानियाँ भी कहानीपन की चिंता करते हुए रची गयी हैं। वाल्मीकि की कथा-भाषा अपने पहले संग्रह से ही प्रौढ़ दिखाई देती है। *सलाम* में कुल चौदह कहानियाँ संगृहीत हैं। वर्चस्वादी परम्परा के ताने-बाने की परख कराती ये कहानियाँ उन दलितों को भी विषय बनाती हैं जो 'मध्यवर्गीय सुविधावाद' में उलझ गये हैं। 'भय' कहानी का दिनेश अपनी जाति छुपा कर रहता है। रामप्रसाद तिवारी से पारिवारिक संबंध बनाये दिनेश कभी सहज नहीं हो पाता। उसके भीतर की हीनता ग्रंथि उस पर हावी होती जाती है। 'अंधड़' कहानी के सुक्कड़लाल अब एस. लाल हैं। वे भरसक अपने अतीत से पीछा छुड़ाने की कोशिश करते हैं। पृष्ठभूमि से अलग हुए उन्हें लम्बा अरसा गुज़र जाता है। उनकी पत्नी सविता इस कटाव को मंजूर नहीं करती। आख़िरकार मि. लाल 'अपने' सच का सामना करने की हिम्मत जुटाते हैं। उनकी बेटी पिंकी उनके मुक़ाबले ज़्यादा सहज व साहसी है। वाल्मीकि ने वैसे तो नयी पीढ़ी की दलित लड़कियों को अपने कथा जगत में अपेक्षित जगह नहीं दी है लेकिन उनके दो-तीन स्त्री-पात्र ऐसे हैं जो साबित करते हैं कि वाल्मीकि दलित स्त्रियों की नयी पीढ़ी की सामर्थ्य व सम्भावना को यथासम्भव पहचान रहे थे। उनके दूसरे कहानी संग्रह

अब भी उनकी फाइलों में बहुत-कुछ ऐसा होगा जो प्रकाशन की बाट जोह रहा हो। उनकी अख़बारी टिप्पणियों, मित्रों, सम्पादकों, पाठकों, शुभेच्छुओं, शोधार्थियों परिवारजनों को लिखे उनके पत्र यथाशीघ्र इकट्ठे कर लिए जाएँ और उनकी अन्य कृतियों के साथ ग्रंथावली के रूप में छपवा दिये जाएँ तो हिंदी दलित साहित्य का एक पूरा युग संरक्षित हो जाएगा।

घुसपैठिए में संकलित 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' की सुनीता हीनताबोध से मुक्त दलित युवती है। 'यह अंत नहीं' की गरिमा का व्यक्तित्व भी जुझारू है। वाल्मीकि ने मेडिकल कॉलेजों में व्याप्त जातिवाद का ख़ुलासा 'घुसपैठिए' कहानी में किया है। पत्रकारिता का जातिवादी चेहरा 'दिनेश पाल जाटव उर्फ़ दिग्दर्शन' कहानी में दर्शाया गया है।

इसी संग्रह में शामिल 'शवयात्रा' कहानी आंतरिक जातिवाद की समस्या पर केंद्रित है। कई दलित लेखकों ने ऐसा विषय उठाने के लिए कहानीकार की आलोचना की। 1997 में प्रकाशित इस कहानी के प्लॉट को वाल्मीकि जी ने फिर नहीं लिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि उन्होंने अपनी 'चूक' स्वीकार कर ली है। लेकिन इस साल 2013 में जब उनका अंतिम आलोचना ग्रंथ *दलित साहित्य : अनुभव संघर्ष एवं यथार्थ* आया तो वाल्मीकि का पक्ष निर्भ्रांत रूप से स्पष्ट हुआ। किताब के पहले खण्ड के पहले अध्याय के आख़िर में उन्होंने लिखा है : 'जाति की यह भावना समाज में इतनी गहरी है कि दलित भी इससे अछूते नहीं हैं। दलितों में भी एक ऐसा वर्ग है जो इससे मुक्त नहीं होना चाहता। ... उनका यह अंतर्द्वंद्व उस वक़्त खुलकर सामने आया जब मेरी एक कहानी 'शवयात्रा' *इण्डिया टुडे* (सितम्बर 1997) में प्रकाशित हुई। उन्होंने जिस प्रकार विरोध किया वह जातिवाद की गहरी पैठ का एक उदाहरण था'।

वाल्मीकि ने *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र* लिखा और वाल्मीकि समुदाय पर केंद्रित शोधकृति *सफ़ाई देवता* की रचना भी की। कांचा इलैया की किताब का हिंदी अनुवाद *मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ* उनकी क्रियाशीलता का अल्पचर्चित पहलू है। वे एक उपन्यास के लेखन में संलग्न थे जो उनके रहते पूरा अथवा प्रकाशित नहीं हो सका। रंगमंचीय सक्रियता उनके युवा जीवन से जुड़ी थी। उनके दो नाटकों का प्रकाशन हो चुका है। साक्षात्कारों की एक पुस्तक भी आ गयी है। अब भी उनकी फाइलों में बहुत-कुछ ऐसा होगा जो प्रकाशन की बाट जोह रहा हो। उनकी अख़बारी टिप्पणियों, मित्रों, सम्पादकों, पाठकों, शुभेच्छुओं, शोधार्थियों परिवारजनों को लिखे उनके पत्र यथाशीघ्र इकट्ठे कर लिए जाएँ और उनकी अन्य कृतियों के साथ ग्रंथावली के रूप में छपवा दिये जाएँ तो हिंदी दलित साहित्य का एक पूरा युग संरक्षित हो जाएगा।